

## भारतीय साहित्य में बहुभाषिकता- अतीत और वर्तमान

राधावल्लभ त्रिपाठी

**ब**

हुलता और विविधता भारतीय संस्कृति व परंपराओं की पहचान रही है। यह बहुलता और विविधता इस देश के भाषाई परिप्रेक्ष्य में भी परिलक्षित होती है। एक अर्थ में हमारा देश भाषाओं का महासागर है। आरंभ से ही यह देश बहुभाषी रहा है। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में धरती माता के लिये कहा गया है- 'जन बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथ्वी यथोकसम्' - यह धरती माँ अपनी गोद में विविध भाषाओं को बोलने वाले और विविध धर्मों का पालन करने वाले लोगों को धारे हुए है।

महाकवि जायसी ने इसी तथ्य को अपने प्रेम मार्ग से जोड़ते हुए कहा है-

तुर्की अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहिं ।

जामें मारग प्रेम का सबैं सराहैं ताहिं ।।

इस बहुभाषिकता के साथ भाषाओं में परस्पर अन्तःक्रिया और अन्तःसंवाद भी हमारे देश की भाषिक स्थिति की विशेषता रही है। भारतीय भाषापरिवार में वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि तथा प्राकृत ये भाषाएँ परस्पर संश्लिष्ट तथा घनिष्ठ रूप से संबद्ध रही हैं। शताब्दियों तक जारी रही इनकी सहवर्तिता भारतीय भाषाई परिप्रेक्ष्य की एक बड़ी विशेषता रही है।

रामायण में हनुमान बहुभाषी हैं। वे वानरों की भाषा में बोलते हैं, पर राम के सामने जाते हैं, शुद्ध परिष्कृत संस्कृत में। राम उनकी सराहना करते हुए लक्ष्मण से कहते हैं- बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम् - इतना ये बोल गये, एक भी अशुद्धि नहीं की। इन्हीं हनुमान को सीता की खोज के लिये भेजा जाता है। अशोक वाटिका में पहुँच कर हनुमान सोचते हैं, मैं देवी सीता से किस भाषा में बात करूँ? यदि मैं ब्राह्मणों की भाँति शुद्ध संस्कृत में बात करता हूँ तो ये देवी कहीं रावण वानर का वेष बनाकर फिर से तो नहीं आ गया, यह समझ कर डर जाएँगी (क्योंकि रावण संस्कृत में बोलता है) -

यदि वाचं प्रदास्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ।  
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ।

महाभारत में विदुर और युधिष्ठिर म्लेच्छ भाषा जानते थे। विदुर ने लाक्षागृह का रहस्य युधिष्ठिर को म्लेच्छ भाषा में बात कर के ही बताया था ताकि अन्य किसी को कानोंकान खबर न हो सके।

यह म्लेच्छ भाषा संभवतः ग्रीक भाषा हो सकती है, क्योंकि भारतवर्ष का ग्रीस से संबंध ईसा पूर्व के काल से चला आ रहा था।

सच्चे भारत ने बहुभाषिकता और बहुवचन की संस्कृति का सदा अभिनंदन किया है। हमारी परंपरा में आचार्यजन शास्त्रविमर्श में प्रायः एकवचन का प्रयोग नहीं करते। योरोप का व्यक्तिवाद हमारी धरती पर आगमन के कारण आधुनिक भाषाओं में विमर्श के क्रम में आज के लेखक अब अपने लिये एकवचन का प्रयोग करने लग गये हैं। बहुवचन और बहुलता की संस्कृति में एक व्यक्ति अपने लिये या किसी एक व्यक्ति के लिये बात करे, यह प्रायः कम होता था। विचार और प्रत्ययों के विकास की प्रक्रिया पर बहुवचन के इस परिप्रेक्ष्य का दूरगामी प्रभाव होना स्वाभाविक था। एक प्रत्यय हमारे विमर्श में एकाकी नहीं आता, प्रत्येक प्रत्यय विविध पूर्वपक्षों और उनके उत्तरपक्षों के रूप में तरह-तरह के प्रति प्रत्ययों के साथ हमारे विमर्श की भाषा में आता है।

इस परिप्रेक्ष्य में संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं की सहवर्तिता के साथ इन भाषाओं में भी संस्कृति की यह बहुलता संक्रांत हो- यह स्वाभाविक था। जैन दर्शन के अनेकांतवाद, स्याद्वाद या सप्तभंगीनय के सिद्धांतों ने सापेक्षता और बहुलता के परिप्रेक्ष्य में सांप्रदायिक संकीर्ण भेदभाव से ऊपर उठकर जीवन के बृहत्तर मूल्यों को पोषित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहण किया है। अनेकांत पर आधारित इस संस्कृति ने विविध भाषाओं, विविध परंपराओं तथा विविध जीवन शैलियों के सहअस्तित्व को संभव बनाया है। प्राकृत भाषा लोकभाषा रही है, पर संस्कृत भाषा के साथ संवाद की एक सतत और सुदीर्घ प्रक्रिया ने उसमें शास्त्रीय विमर्श और कविता की परंपरा को भी संपन्न बनाया। संस्कृत की चिंतन परंपराओं के साथ संवाद के कारण प्राकृत भाषा में दार्शनिक विमर्श पुष्ट हुआ। इसी तरह प्राकृत के साथ संवाद के क्रम में संस्कृत में लोक जीवन के काव्य और उसके विमर्श की प्रक्रिया चल पड़ी। इसी तरह चरितलेखन, इतिहासरचना, छन्दःशास्त्र, कविसमय, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, काव्यविधाएँ, कथानक रूढ़ियाँ, आख्यान-उपाख्यान-इन सबके पारस्परिक आदान-प्रदान के द्वारा संस्कृत, पालि और प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का साहित्य संपन्न बना।

संस्कृत और प्राकृत साहित्य के घनिष्ठ संबंध का सर्वोच्च उदाहरण गुणादय की बड़कहा या बड़कथा है, जो पेशाची प्राकृत में लिखी गई थी, पर लुप्त हो गई। संस्कृत में इसके कम से कम तीन रूपांतर हुए- जो क्षेमेन्द्र, बुधस्वामी और सोमेश्वर के द्वारा किये गये। इसमें कोई संदेह नहीं कि रामायण और महाभारत के पश्चात् जिस एक रचना ने संस्कृत साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव डाला, वह बड़कहा या बृहत्कथा है।

आनंदवर्धन संस्कृत काव्यशास्त्र के शीर्षस्थ आचार्य हैं। वे देवीशतक जैसा यमककाव्य संस्कृत में लिखते हैं, तो विषमबाणलीला काव्य प्राकृत में लिखते हैं। राजशेखर की आचार्य, विचारक और नाटककार तथा कवि के रूप में संस्कृत साहित्य में अनन्य प्रतिष्ठा है। वे कर्पूरमंजरी सट्टक प्राकृत में लिखते हैं, तो बालभारतम् जैसा महानाटक व अन्य नाट्यकृतियों के साथ

काव्यमीमांसा जैसा महत्वपूर्ण ग्रंथ संस्कृत में रचते है। प्रवरसेन का सेतुबंध अद्वितीय महाकाव्य है। कल्पना और बिंबों की ऐसी निराली छटा अन्यत्र दुर्लभ है। पर प्रवरसेन संस्कृत में रचनाएँ करते थे- यह उनके यत्र-तत्र उद्धृत स्फुट श्लोकों से प्रमाणित होता है।

ईसा की आरंभिक शताब्दियों में प्राकृत साहित्य ने संस्कृत काव्य परंपरा के समानांतर अपनी स्वार्जित प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। काव्य की विधाओं का विभाजन भाषा के आधार पर करते हुए अलंकारशास्त्र के लक्षणकार बताते आये हैं कि काव्य तीन प्रकार का होता है- संस्कृतकाव्य, प्राकृतकाव्य और अपभ्रंशकाव्य। काव्यशास्त्र के सुविदित आचार्य दण्डी ने छठी शती के आसपास प्रणीत अपने काव्यादर्श में प्राकृत साहित्य की परंपरा पर प्रकाश डालते हुए कहा है-

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।

सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्।।

शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी।

याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम्। (काव्यादर्श, 1.34, 35)

अर्थात् महाराष्ट्र में प्रचलित महाराष्ट्री-प्राकृत प्राकृत भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ मानी गई है, जिसमें सूक्तिरत्नों के सागर सेतुबन्ध आदि काव्य रचे गये हैं। इसके अतिरिक्त शौरसेनी, गौडी, लाटी तथा इस प्रकार की अन्य भाषाएँ भी व्यवहार में प्रचलित हैं। टीकाकार रत्नश्री ज्ञान ने 'शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी' इस कथन की टीका में कहा है कि ये प्राकृत भाषाएँ सामान्य भाषाएँ हैं, जिनका प्रयोग साहित्य में गौण रूप से होता है, जबकि महाराष्ट्री प्राकृत को संस्कृत भाषा की तरह साहित्यिक प्रयोग के लिये संस्कारित कर लिया गया है। इसलिये कर्पूरमंजरी जैसे कतिपय अपवादों को छोड़ दें, तो शौरसेनी, गौडी, लाटी आदि प्राकृत भाषाओं में स्वतंत्र रूप से विरचित कोई साहित्यिक कृति प्रायः नहीं मिलती। प्राकृत मूलतः व्याकरण के नियमों से बँधी नहीं थी, अभिनवगुप्त कहते हैं- 'प्रकृतेरसंस्काररूपाया आगतम् प्राकृतम्'- असंस्कृत या व्याकरण से अपरिमार्जित रूप प्राकृत है, उससे जन्म लेने वाला भाषारूप प्राकृत है।

उद्योतनसूरि अपनी कुवलयमालाकहा में कहते हैं कि साहित्यिक स्तर पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीन भाषाओं का ही अस्तित्व है। कथाप्रसंगों में उनकी कथा के पात्र कहीं-कहीं संस्कृत और अपभ्रंश या पैशाची में बातचीत करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं, और ऐसे प्रसंगों में उद्योतनसूरि ने संवाद संस्कृत या अपभ्रंश भाषा में ही दिये हैं।

पड्यभासारइयामगहट्टेदेसीवण्णयणिबद्धा।

सुद्धा सयलकहा च्चिअ तावसजिणसत्थवाहिल्ला।।

कौतूहलेन कत्थहइ परवयणवसेण सक्कयणिबद्धा।

किंचि अवभंसकाया दावियपेसायभासिका।।

किंतु इसके साथ ही, उद्योतनसूरि की कथा का नायक जब विजयपुर (आधुनिक बीजापुर?) के बाजार में भ्रमण कर रहा होता है, वह बाजार में अलग-अलग लोगों के द्वारा अपने देश की भाषाएँ बोलता हुआ सुनता है। इस प्रसंग में 16 भाषाओं के नमूने उद्योतनसूरि ने दिये हैं। ये भाषाएँ होल्ले, मज्झदेस, मगह, अम्तावी, किर (कश्मीर), ढक्क (पंजाबी), सेंधव, मारुण (मारवाड़), गुज्जर (गुजरात), लाड (लाट), मालव, कण्णड (कर्णाटक), ताइअ (ताजिक या पारसी), कोसल, आंध, मरहट्ट देशों की हैं।

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य नैषधचरित में दमयंती के स्वयंवर का वर्णन किया है, जिसमें

देश के दूर-दूर के क्षेत्रों से राजा आये थे। इन क्षेत्रों की अपनी-अपनी अलग-अलग भाषाएँ थीं। श्रीहर्ष लिखते हैं कि यदि ये राजा लोग अपनी-अपनी भाषा में बात करते तो कोई किसी की बात न समझ पाता, अतः वे एक दूसरे से बात संस्कृत में कर रहे थे-

‘अन्योन्यभाषाऽनवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु’

गाथा छंद या गाथा की विधा को प्राकृत कविता ने जो उत्कर्ष प्रदान किया, वह भारतीय साहित्य की अनमोल निधि है। गाथा छंद का प्रयोग संस्कृत, पालि और प्राकृत इन तीनों भाषाओं की प्राचीन काव्य परंपराओं में हुआ है। वैदिक संहिताओं की रचना के साथ-साथ संस्कृत में गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण आदि के रूप में लौकिक वाङ्मय की रचना भी होती आ रही थी। वेद मंत्रों का ऋषियों के द्वारा साक्षात्कार किया गया, और वे परंपरा से इन ऋषियों के वंशजों या शिष्यों के पास ही रहे। दूसरी ओर गाथा, नाराशंसी और इतिहास-पुराण के रूप में जो वाङ्मय विकसित हो रहा था, वह जनसामान्य तक पहुँचा। यह वाङ्मय भी वेद के ही समान प्राचीन है। गाथा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद (8.132.1) में हुआ है, जहाँ कण्व ऋषि इंद्र के विषय में स्वरचित गाथा का उल्लेख करते हैं। ऋग्वेद (8.2.38; 1.4.34) में गाथाकार भृग्वंगिरस् ऋषि का उल्लेख है। भृग्वंगिरस् गोत्र के ऋषियों ने गाथाओं की रचना की थी। इन ऋषियों को गाथाकार कहा गया है। विश्वामित्र को भी गाथिन् (गाथाओं की रचना करने वाला) कहा गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार गाथिन् से ही गाधिन् बना है, जो विश्वामित्र के गोत्र की संज्ञा है। शतपथ ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण के अनुसार गाथाओं का प्रतिदिन पाठ होता था; इनका पाठ उत्सव, विवाह आदि के अवसरों पर भी किया जाता था। सीमंतोन्नयन संस्कार के अवसर पर वीरों की गाथाएँ सुनायी जाती थीं। गाथागायन की परंपरा से ही इतिहासकाव्यों का जन्म हुआ। नाराशंस् शब्द का भी प्रयोग ऋग्वेद में आया है (1.6.42; 10.64.3; 2.34.6)। इसी प्रकार आख्यान शब्द तथा आख्यानो का प्रयोग भी ऋग्वेद में मिलता है। निरुक्त तथा बृहदेवता आदि ग्रंथों ने ऋग्वेद में प्राप्त आख्यानतत्व का विवेचन किया है। अथर्ववेद में चारों वेदों के साथ गाथा, नाराशंसी और इतिहास-पुराण का भी उल्लेख करते हुए बताया गया है कि इनका पठन-पाठन आवश्यक है-

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासः पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्।

इतिहासस्य च वै गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।

(अथर्व. 15।6।99)

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है कि परम पुरुष के निःश्वास से चार वेद, इतिहास-पुराण तथा गाथा-नाराशंसी की उत्पत्ति हुई।

‘तस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इतिहासः पुराणं गाथाश्च नाराशंसीश्च।’

गाथा गायन की परंपरा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। वैदिक यज्ञों में गाथा गायन होता था। ब्राह्मण ग्रंथों ने तो किस यज्ञ में किस-किस मूर्च्छना या तन के साथ कौन-सी गाथाएँ गाई जाएँगी, इसका विधान भी बताया है।

महाभारत में अनेक स्थलों पर प्राचीन कवियों के द्वारा रचित गाथाओं को न केवल उद्धृत किया गया है, इनके प्रणेता कवियों के नाम भी दिये गये हैं। प्राचीन गाथाकारों में शुक या उशना एक सुविदित नाम हैं, जिनकी रचना की गुणवत्ता का प्रमाण श्रीमद्भगवद्गीता के ‘कवीनामुशना कविः’ इस वचन से भी होता है। महाभारत में उद्धृत अन्य गाथाकारों में सत्यवान्

आदि के नाम लिये जा सकते हैं। विभिन्न समाजों में अवसरोचित तरह-तरह की गाथाएँ प्रचलित थीं। यहाँ तक कि स्त्रियाँ, बच्चे, बूढ़े लोग या वेश्याएँ खेल-खेल में गाथाएँ गाया करते थे।<sup>1</sup>

वैदिक काल से चली आती गाथा की परंपरा में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृतभाषा में गाथाओं का प्रणयन होता रहा। संस्कृत और प्राकृत की गाथाओं का छंदोविधान, लय और गति एक ही है। श्री रत्नशेखर सूरि ने अपने छन्दःकोश में गाथा का लक्षण इस प्रकार किया है-

सामन्नेणं बारस अट्ठारस बार पनरमत्ताओ ।

कमसो पायचउक्के गाहाए हुंति नियमेणं ।।

गाहाइदले चउ चउ मत्तंसा सत्तः अट्ठमो दुकलो ।

एय वीयदले वि हु नवरं छट्ठोइ एकगलो ।।

अर्थात् गाथा के चार चरणों में क्रमशः 12, 18, 12 और पंद्रह मात्राएँ होती हैं। संस्कृत के आर्या छंद का भी यही लक्षण है।

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।

अष्टादश द्वितीये चतुर्थे पञ्चदश साऽऽर्या ।।

प्राकृत की गाथाओं का प्रथम उपलब्ध संकलन पहली शताब्दी में राजा हाल ने गाहासतसई के नाम से तैयार किया। गाहासतसई भारतीय साहित्य की अनमोल निधि है। इसकी गाथाएँ भारतीय जीवन और समाज की सच्चाइयों से हमें रूबरू कराती हैं, अपनी सरसता और सौंदर्य में भी वे अनोखी हैं। गाहासतसई की गाथाओं का प्रभाव संस्कृत की मुक्तक काव्य परंपरा पर देखा जा सकता है। जो विद्वज्जन कालिदास को गुप्तकाल का कवि मानते हैं, वे इनके मेघदूत, कुमारसंभव आदि काव्यों में गाहासतसई के गाथाओं की छाया देखते हैं।

श्री एस.वी. सोहोनी का मत है कि कालिदास ने सातवाहन राजा हाल की गाहासतसई से प्रभावित होकर कुमारसंभव तथा मेघदूत में शिवपार्वती के दाम्पत्य का सरस चित्रण किया है। यही नहीं, वे यक्ष के संदेश की निम्नलिखित पंक्तियों में गाहासतसई की एक गाथा की आलोचना करते हुए प्रतीत होते हैं-

स्नेहानाहुः किमापि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-

दिष्टे वस्तुन्युपचिततरसे प्रेमराभीभवन्ति ।।

अर्थात् कहते हैं कि विरह में प्रेम कुछ छीज जाता है, पर ऐसा कहना ठीक नहीं है। वास्तव में इष्ट या प्रिय के ध्यान में एकतान होने से विरही के चित्त का प्रेम राशि-राशि संचित होकर बढ़ता रहता है। गाहासतसई की एक गाथा में कहा गया है कि प्रेमिका से न मिलने पर प्रेम धीरे-धीरे ही समाप्त हो जाता है जैसे चुल्लू में लिया गया पानी-

अद्दंसणेण पुत्तअ सुट्ठुवि णमेहाणुबंधघडिआइं ।

हत्थउचपाणिआइं व कालेण गलंति पेम्माइं । गाहासतसई 3, 36

महाकवि अमरुक अपनी मार्मिक गहरी संवेदनाओं से परिपूर्ण प्रेमकाव्य के लिये जाने जाते हैं। उनके मुक्तकों में भी गाहासतसई की कतिपय गाथाओं के भाव सरस रूप में पिरोये गये हैं। गाहासतसई की एक गाथा में नायिका प्रवास से लौट कर आते प्रियतम के लिये नयनों के कमल मार्ग में बिछा कर अपनी काया से ही मंगलकलश रच देती है, तो अमरुक की नायिका आँखों से लंबा वंदनवार बना देती है, मुस्कान से फूल बिखेर देती है, पसीने के जल से ही अर्घ्य दे डालती है, इस तरह वह अपनी देह के एक-एक अंग से प्रिय के स्वागत में मंगल रच देती है।

रथापइण्णणुप्पला तुमं सा पडिच्छए एतं ।

दार णिहिएहिं दोहिं वि मंगलकलसेहिं न थणेहिं ।। गाहा. 2.40

अमरुक ने गाथाकार की अभिव्यक्ति को कुछ और सँवार दिया है और उसमें देह के सौंदर्य के रंग भर दिये हैं। अमरुक कहते हैं-

दीर्घावन्दनमालिका विरचिता दृष्टयैव नेन्दीवरैः

पुष्पाणां प्रकरु स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः ।

दत्तः स्वेदमुचा पयोधरभरेणार्घो न कुम्भाम्भसा

स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मङ्गलम् ।।

प्रिया ने प्रिय के लिये नील कमल की वंदनवार नहीं बनवाई, आँखों की वंदनवार तान दी। कुंद और चमेली के फूल रास्ते में नहीं बिछाये, मुस्कान के फूल बिखेर दिये। पयोधर से टपकते पसीने से ही अर्घ्य दे दिया, जल से भरे घड़े से नहीं। इसलिये सुंदरी ने घर में आये पाहुन प्रिय के लिये अपनी काया से ही मंगल रच डाला।

गाहासतसई में भारतीय जनजीवन के यथार्थ चित्र हैं, कहीं-कहीं उनमें रूमानी रंग भी भरे गये हैं। प्राकृत कविता की यथार्थवादिता ने संस्कृत कविता को भी नये सिरे से अनुप्राणित किया। गाहासतसई की कुछ गाथाओं को इन्हीं के आस-पास लोक जीवन की कविता लिखने वाले संस्कृत कवियों की अभिव्यक्तियों को हम सामने रखें, तो दोनों में साहित्यिक संवाद के धरातल समझ सकते हैं।

पाअपडिअस्स पइणो पुट्ठं पुत्ते समारुहम्मि ।

दढमण्णिदुण्णिआए वि हासो घरिणीए णेक्कंतो ।।

पादपतितस्य पत्युः पृष्ठं पुत्रे समारुहति ।

दृढमन्युदनाया अपि हासो गृहिण्या निष्क्रान्तः ।। 1.11

पाँवों पर गिरे हुए पति की

पीठ पर जा चढ़ा उसका बच्चा,

कस कर रिसाई हुई थी घरवाली

फिर भी हँसी फूट गई उसके मुँह से।

धरिणाए महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण हत्थेण ।।

छित्तं मुखं हसिज्जइ चन्दापतीं गअं पइणा ।। 1.13

गृहिण्या महानसकर्मलग्नमसीमलिनेन हस्तेन ।।

स्पृष्टं मुखं हस्यते चन्द्रावस्थां गतं पतिना ।।

रसोई के कामकाज से मैला हाथ

मुँह पर लग गया घरवाली के

तो पति ने ठिठोली की

कि अब चन्द्रमा की बराबरी पर आ गई तुम।

दुग्गअकुटुंबअट्ठी कहेणु मए धोइएण सोढव्वा ।

दसिओसरंतसलिलेण उअड रुण्णं व पटएण ।। 1.18

दुर्गतकुटुम्बकृष्टिः कथं नु मया धौतेन सोढव्या

दशापसरत्सलिलेन पश्यत रुदितमिव पटकेन ।।

इस दुर्गति में पड़े परिवार का निचोड़ा जाना  
 कैसे सह पाऊँगा धोया जाता मैं  
 यह सोच कर रो रहा है कपड़ा  
 निचोड़े जाते छोर से टपकते पानी के द्वारा ।  
 दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअकुडुलिहिआइं ।  
 दिअअं कहेइ रामाणुलग्गसोमिच्चरिताइं ॥ 1.35  
 देवरस्याशुद्धमनसः कुलवधूर्निजकुडयलिखितानि ।  
 दिवसके कथयति रमानुलग्नसौमित्रिचरितानि ॥  
 खोट है देवर के मन में  
 तो कुलवधू अपनी भीत पर लिख-लिख कर  
 बताती है उसे  
 राम का अनुगमन करने वाले लक्ष्मण का चरित ।  
 अबिआअमाणिणो दुग्गअस्स छायां पत्त्यू रक्कंती ।  
 णिअअबंधवाणं जबरइ गरिणी विहवेण पत्ताणं ॥ 1.18  
 अभिजात्यमानिनो दुर्गतस्य छायां प्रियस्य रक्षन्ती ।  
 निजबान्धवेभ्यः क्रुध्यति गृहिणी विभवेनागच्छद्भ्यः ॥  
 अपने घराने का घमंड है पति को  
 और दुर्गति में पड़ा हुआ है वह  
 घरवाली है कि उसका मन रखती है  
 चिढ़ती है वह  
 वह ठाठ-बाट से आने वाले अपने ही मायके के लोगों पर  
 हासाविओ जणो सामलीअपजमं पसूअमाणाए ।  
 वल्लवावएण अलं मम त्ति बहुसो भणंतीए ॥  
 हासितो जनः श्यामया प्रथम प्रसूयमानया ।  
 वल्लभवादेनालं ममेति बहुशो भणन्त्या ॥ 2.23  
 पहली बार बच्चा जना श्यामा ने  
 तो लोगों को खूब हँसाया यह कह-कह कर बार-बार  
 अब बात ही नहीं करूँगी कभी पति से  
 णिक्कम्माहिं वि छेत्ताहिं पामरो मेअ वच्चए वसइ ।  
 मुअपिअजाआसुण्णइअगेहदुक्खं परिहरंतो ॥  
 निष्कर्मणोऽपि क्षेत्रात् पामरो नैव व्रजति वसतिम् ।  
 मृतप्रियजायाशून्यीकृतगेहदुःख परिहरन् ॥ 2.70  
 खेत में काम कुछ बचा नहीं  
 फिर भी पामर जा नहीं रहा है बस्ती में  
 घरवाली के मर जाने से  
 सूने-सूने घर में के दुख से बचता हुआ ।  
 झञ्झावाउत्तिण्णिअघरविवरपलोट्टसलिलधाराहिं ॥

कुड्डलिहिओहिअहं रक्खइ अज्जा करअहेहि ।।  
 झञ्झावातोत्तृणीकृतगृहविवरप्रपतत्सलिलधाराभिः ।  
 कुड्डयलिखितावधिदिवसं रक्षत्यार्या करतलैः ।। 2.70

आँधी ने तिनके की तरह घर को उठा लिया है  
 छेद से टपक रही हैं पानी की धाराएँ  
 आर्या अपनी हथेली से ढक कर  
 भीत पर लिखे अवधि दिवसों की लकीरें  
 बचा रही है ।

संस्कृत के प्राचीन कवियों ने दुर्गत परिवार के इसी प्रकार के अत्यंत करुण और यथार्थ चित्र अंकित किये हैं। आठवीं शताब्दी के काव्यशास्त्र के आचार्य वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में यह श्लोक उद्धृत किया है-

निवृष्टेऽपि बहिर्घने न विरमत्यन्तर्जरद्वेश्मनो  
 लूलातन्तुतच्छिदो मधुपृषत्पिङ्गाः पयोबिन्दवः ।  
 चूडाबर्बरके निपत्य कणिकाभावेन जाताः शशो-  
 रङ्गास्फालनभग्ननिद्रगृहिणीचित्तव्यथादायिनः ।।

बादल फट गये हैं बरस कर  
 पर ठहर नहीं पाई है  
 जर्जर घर में होती टपटप  
 वे बार बार घुस आती हैं भीतर  
 मकड़ियों के जाले छेद छेद कर  
 पानी की बूँदें- शहद जैसी भूरी  
 गिरती हैं बच्चे के माथे पर  
 रह जाती हैं छार छार बिखर कर  
 देह पर चोट करतीं  
 उचटा देती हैं नींद गृहिणी की  
 चित्त में व्यथा जगातीं-

एक अन्य पद्य में कवि कहता है कि बच्चे निहोरा कर रहे हैं कि माँ, कुछ खा लो, पर गृहिणी घर में बच्चे थोड़े से चावलों को परिवार के लिये बचा कर रखना चाहती है-

वैराग्यैक समुन्नता तनुतनुः शीर्णाम्बरं बिभ्रती  
 क्षुक्षामेक्षणकुक्षिभिश्च शिशुभिर्भोक्तुं समभ्यर्थिता ।  
 दीना दुःस्थकुटुम्बिनी प्रविगलद्वाष्पाम्बुधौतानना-  
 प्येकं तण्डुलमानकं दिनशतं नेतुं समाकाङ्क्षति ।। (सुभाषितरत्नकोश, 2244)  
 छीज चुकी काया के साथ  
 वह केवल अपने वैराग्य में ऊँची बनी हुई है  
 तार-तार हो चुके कपड़े पहने है वह ।  
 कुम्हलाई दृष्टि और पिचके पेट वाले उसके बच्चे  
 निहोरा करते हैं कुछ खाने के लिये

दिन है गरीब की घरवाली  
 लगातार बहते आँसुओं से धुला है उसका चेहरा  
 वह एक पसेरी चावल से काट देना चाहती है सौ दिन ।  
 सक्तून् शोचति सम्प्लुतान् प्रतिकरोत्याक्रन्दतो बालकान्  
 प्रत्युत्सिञ्चति कपरिण सलिलं शय्यातृणं रक्षति ।  
 दत्त्वा मूर्धनि शीर्णशूर्पशकलं जीर्णे गृहे व्याकुलता ।  
 किं तद्यन्न करोति दुःस्थगृहिणी देवे भृशं वर्षति ॥  
 वह भीग कर बह गये सत्तू पर शोक कर रही है  
 चिल्लपों मचाते बच्चों को चुप करा रही है  
 चिथड़े से चहबच्चे सुखा रही है पानी के  
 बचा रही है बिस्तर पुआल का  
 इस चूते टपकते पुराने घर में  
 क्या क्या नहीं कर रही है गरीब की घरवाली  
 जबकि देव बहुत जोर से बरस रहे हैं बाहर  
 तस्मिन्नेव गृहोदरे रसवती तत्रैव सा कण्डनी  
 तत्रोपस्करणानि तत्र शिशवस्तत्रैव वासः स्वयम् ।  
 एतत् सोढवतोऽपि दुःस्थगृहिणः किं ब्रूमहे दुर्दशा-  
 मद्यश्वो विजनिष्यमाणगृहिणी तत्रैव यत् कुन्थति ॥ (सुभाषितावलि, 1310)  
 इसी एक कुठरिया में  
 समाया हुआ है सारा का सारा घर  
 यहीं ओखली, यहीं रसोई,  
 यहीं सब का सब सामान गृहस्थी का  
 बच्चों का जमघट यहीं, यहीं ओढ़ना, यहीं बिछौना  
 यह सब सहता ही आया है गरीब घरवाला अब तक  
 पर अब जो दुर्दशा है, क्या कहे उसका  
 घरवाली भी यहीं कराह रही है  
 आज-कल में जो बच्चा जनने को है ।  
 रथ्यारजोरुणित धूसरिताङ्गयष्टे  
 कच्चित् पितुः स्मरसि पुत्रक निर्घृणस्य ।  
 उक्तैवमङ्कगतर्भकमायताक्ष्या  
 पान्थास्त्रिया प्ररुदितं करुणं दिनान्ते । (सुभाषितावलि, 1995)  
 गली की धूल से मटमैली ललछोंही काया है तेरी  
 कभी याद भी आती है तुझे अपने निर्दय पिता की?  
 गोद में उठाये बालक से  
 बड़ी बड़ी आँखों वाली पथिक की घरवाली ने  
 यह कहा और फिर रो पड़ी फूट फूट कर ।  
 इस प्रकार के सैकड़ों सुभाषित संस्कृत में ईसा की पहली-दूसरी सहस्राब्दी में रचे गये ।<sup>१</sup>

इनमें प्राकृत काव्य या हाल की गाहासतसई का सीधे प्रभाव हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर संस्कृत और प्राकृत कविता की सहवर्तिता पहली सहस्राब्दी में बनी रही, जिसने भारतीय साहित्य में दो काव्यधाराओं की पारस्परिकता का अनोखा इतिहास रचा। कालिदास जैसे महान् कवियों से प्राकृत के प्रवरसेन, वाग्भट आदि महाकवि प्रभावित हुए, तो हाल के संकलन की गाथाओं से अनेक संस्कृत साहित्यकार और महाकवि प्रभावित हुए। गाहासतसई जिस तरह जन-जन की कंठहार बनी रही, उसी तरह संस्कृत के परवर्ती कवियों के लिये प्रेरणास्रोत भी वह बनी रही। सातवीं शताब्दी के कालजयी रचनाकार महाकवि बाणभट्ट ने इस हाल के इस संकलन की प्रशंसा में कहा है-

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः ।

विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभषितैः ॥

जल्हण ने अपनी सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर का यह पद्य उद्धृत किया है, जिसमें महान् आचार्य और महाकवि राजशेखर कहते हैं कि सातवाहन राजा हाल ने गाहासतसई गूँथ कर धैर्य का अपूर्व विस्तार किया-

जगत्यां ग्रथिता गाथा सातवाहनभूभुजा ।

व्यदधुर्धृतिश्च विस्तारमहो चित्रपरम्परा ॥

रामचरित के प्रणेता महाकवि अभिनंद (अष्टम-नवम शताब्दी) ने हाल की गाहासतसई की परंपरा में श्रीहारवर्ष के कोष की चर्चा की है, जिसके द्वारा अन्य कविकोषों की रचना के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया गया-

नमः श्रीहारवर्षाय येन हालादनन्तरम् ।

स्वकोषः कविकोषाणामाविर्भावाय सम्भृतः ॥ रामचरित 6.13

ग्यारहवीं शताब्दी के महाकवि गोवर्धन ने गाहासतसई को आदर्श बनाकर आर्यासप्तशती की रचना की। गोवर्धन ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि जो रस की धारा प्राकृत कविता में सहज रूप से बह रही थी, उसे उन्होंने बलात् संस्कृत की रचना में बाँधने का प्रयास किया है, और यह प्रयास ऐसा ही है जैसे नीचे की ओर सहज गति से बह रही कलिंदकन्या यमुना को गगनतल की ओर ले जाना-

वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलनैन संस्कृतं नीता ।

निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम् ॥ (आर्यासप्तशती 52)

यह गोवर्धन की विनम्रता ही है जो वे ऐसा कहते हैं। उन्होंने अपनी कवित्व प्रतिभा से सचमुच प्राकृत की लोक जीवन से जुड़ी रसमय धारा को संस्कृत का अंग बना दिया है।

एक ओर गोवर्धन प्राकृत की काव्यमाधुरी पर मुग्ध हैं, तो दूसरी ओर अपभ्रंश भाषा की रचनाओं का भी उन्हें बोध है। संस्कृत की परिष्कृत अभिजात शैली की तुलना में अपभ्रंश की रचनाएँ अनगढ़ और अपरिमार्जित होती हैं- यह बात स्वीकार करते हुए वे विरहिणी नायिका के लिये अपभ्रंश भाषा से ही उपमा दे देते हैं-

चली गई वह सवर्णता

बचा नहीं रहा संस्कार

न रह गई वह प्रकृति ।

वह लड़की तुम्हारे प्रेम की विपदा में क्या गिरी

कि बस अपभ्रंश भाषा बनकर रह गई। (आर्यासप्तशती, 342)  
फिर भी अपभ्रंश भाषा के काव्य को गोवर्धन निकृष्ट मानते हों, ऐसी बात नहीं है।  
अपनी सारी अनगढ़ता में अपभ्रंश की कविता का अलग सौंदर्य है। गोवर्धन कहते हैं-

गाँठें हैं यदि गन्ने में  
तो इससे क्या घट जाता है गन्ने का?  
गीत रच गया है  
अपभ्रंश में यदि  
तो इसे क्या घट जाता है गीत का?  
टेढ़ा है यदि चंद्रमा  
तो इससे क्या घटता है चन्द्रमा का?  
दरिद्र है यदि प्रिय  
तो इससे क्या घट जाता है प्रिय का? (आर्यासप्तशती)

गाहासतसई में मध्यमवर्गीय भारतीय परिवार की गृहिणियों के भी चित्र हैं, जिनकी  
छायाएँ गोवर्धन की इन आर्याओं में नये संदर्भ के साथ अंकित हुई हैं। गोवर्धन की ये आर्याएँ  
गाहासतसई की गाथाओं का स्मरण कराती हैं।

द्वारे गुरवः कोणे शुकः सकाशे शिशुगृहे सख्यः।  
कालासह क्षमस्व प्रिय प्रसीद प्रयातमहः।। आर्यासप्तशती, 285

द्वार पर गुरुजन है, कोने में है तोता  
गोद में बच्चा भी है और घर में हैं सखियाँ  
उतावले हे प्रिय मेरे  
क्षमा करो,  
अब तो दिन ढल ही चुका।

दुर्गतगृहिणी तनये करुणाद्रा प्रियतमे च रागमयी।  
मुग्धा रताभियोगं न मन्यते न प्रतिक्षिपति।

गोद में बच्चा है गरीब की घरवाली के  
और मन है बच्चे के लिए करुणा से भीगा-भीगा  
भोली है वह,  
प्रिय के रति के आग्रह को  
न स्वीकार कर पाती है  
न सीधे-सीधे निषेध कर पाती है।

गाहासतसई की एक गाथा है-

सुणअ पुरम्मि गामे हिंडंती तुह कएण सा बाला।  
पासअसारिच्च घरं घरेण कइआ वि खज्जिहिए।।  
हे सुभग, तुम्हारे कारण नगर में और गाँव में भटकती वह लड़की  
चोपड़ की गोटी की तरह घर घर जा रही है  
तो कहीं निगल ली जायेगी।

यहाँ नायिका के लिये पाशकशारी या चोपड़ की गोटी से उपमा दी गई है। गोवर्धन ने

अपनी आर्या में ठीक इसी उपमा को सुंदर ढंग से अन्य संदर्भ में प्रयुक्त किया है। नायिका की सखी नायक से कहती है कि तुमने मेरी सखी के साथ चोपड़ की गोट मान कर खेल खेला और फिर उसे छोड़ दिया।

गाहासतसई के बाद लगभग तेरहवीं शताब्दी में जयवल्लभ ने प्राकृत गाथाओं के एक और संकलन का सम्पादन किया, जिसे उन्होंने वज्जालग्न नाम दिया। वज्जालग्न में प्राकृत की कुल 715 गाथाएँ संकलित हैं। संकलनकार जयवल्लभ ने विषय की दृष्टि से अपने संग्रह को 16 वज्जाओं में विभाजित किया है। वज्जा शब्द का मूल संस्कृत शब्द व्रज्या है, जिसका अर्थ है पर्यटन या सैर। डॉ. प्रेम सुमन जैन (प्राकृत भारतीय उदयपुर, 1991, पृ. 9) ने भ्रान्तिवश वज्जा शब्द को देशी शब्द मान लिया है। प्राकृत हिन्दी कोश (सं. के.आर.चन्द्र, अहमदाबाद तथा वाराणसी, 1987, पृ. 705) में भी तत्सम और तद्भव का विचार किये बिना 'वज्जा' को देशज शब्द बताकर इस भ्रान्ति का प्रवर्तन किया गया है। व्रज्या शब्द संस्कृत में गमनार्थक व्रज धातु में क्यप् प्रत्यय लगा कर बना है। संस्कृत के प्राचीन और प्रामाणिक कोश अमरकोश में कहा गया है- व्रज्याऽटाट्या पर्यटनम्- (आ.को. 2।7।35)- अर्थात् व्रज्या, अटाट्या और पर्यटन ये पर्याय हैं। अमरकोश के टीकाकार कृष्णमिश्र ने पाणिनि के सूत्र व्रजयजोः (3।3।98) का हवाला देकर व्रज्या की वैयाकरणिक निरुक्ति सिद्ध की है। अमरकोश वज्जालग्न से पहले की रचना है, उसमें व्रज्या को संस्कृत शब्द बताया गया है, तो उसी से वज्जा तद्भव प्राकृत में आया- यह मानना समीचीन होगा। साहित्य में व्रज्या या उसके तद्भव वज्जा को किसी संकलन के प्रकरणों का नाम देने के लिये प्रयुक्त किया जाता रहा है। वज्जालग्न के पहले विद्याकर ने संस्कृत में सुभाषितरत्नाकर नाम से सुभाषितों का संकलन तैयार किया, उन्होंने भी अपने संग्रह के अध्यायों या प्रकरणों को व्रज्या कहा है।

वज्जालग्न इस शीर्षक में वज्जा शब्द और भी सटीक इसलिये लगता है कि जयवल्लभ का यह संकलन प्राकृत कविता की दुनिया में ले जा कर हमें उसके बहुत सारे ठौर ठिकानों की सैर कराता है। हाल का संकलन इसके एक सहस्राब्दी से भी अधिक समय पहले निर्मित हो चुका था, वह वज्जालग्न से आकार में बड़ा भी है, और उसकी गाथाएँ भारतीय काव्य परम्परा का अनूठा वैभव सामने लाती हैं। फिर भी भारतीय समाज और जीवन के आचार-विचार के अनेक आयाम जयवल्लभ द्वारा संकलित गाथाएँ खोलती हैं, जो राजा हाल के संकलन में अनछुए रह गये हैं।

वज्जालग्न में संग्रहीत गाथाएँ जब रची जा रही थीं, तब संस्कृत कविता अपने प्रकर्ष पर थी। संस्कृत काव्य ने इन गाथाओं को प्रभावित भी किया है। जयवल्लभ के द्वारा संकलित अनेक गाथाओं पर प्राचीन संस्कृत महाकवियों का असर देखा जा सकता है। गाहासतसई की गाथाओं ने संस्कृत कविता को बहुत प्रभावित किया है, तो परवर्ती प्राकृत और अपभ्रंश की कविता संस्कृत काव्यधारा से किस प्रकार अनुप्रेरित व अनुप्राणित हुई है, इसका साक्ष्य वज्जालग्न देता है। इसके बावजूद जयवल्लभ के गाथाकार संस्कृत और संस्कृत में रची कविता के लिये कुछ चिढ़ का भाव रखते हैं। वे कहते हैं-

डञ्जउ सक्कयकव्वं च निम्मियं जेण ।

वसहरम्मि पलित्ते तडयडतट्टत्तणं कुणई ।। (अतिरिक्त गाथा 31.3)

(दह्यतां संस्कृतकाव्यं संस्कृतकाव्यं च निर्मितं येन ।

वंशगृहे प्रदीप्ते तडतडशब्दं करोति ।।)

जल जाए संस्कृत की कविता  
जल जाए वह भी  
जिसने संस्कृत में कविता रची  
बँसवारी में आग लगाओ  
तब उठती है तड़तड़ की आवाज ।

प्राकृत में कविताएँ रची और सुनाई जाती थीं, उनके साथ संस्कृत में काव्य रचना हो रही थी। पर जयवल्लभ प्राकृत के साथ संस्कृत की काव्य रचना के गठजोड़ स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं-

पाइयकव्युल्लापे पडिवयणं सक्कएण जो देइ ।  
सो कुसुमसत्थरं पत्थरेण दलित्तं विणासेइ ॥ (अतिरिक्त गाथा 31.4)  
प्राकृतकाव्युल्लापे प्रतिवचनं संस्कृतेन यो ददाति ।  
स कुसुमस्त्रस्तरं प्रस्तरेण दलित्वा विनाशयति ।।)  
प्राकृत की कविता सुनाई जा रही हो,  
और कोई सुनाने लग जाए संस्कृत की कविता,  
वह फूलों की सेज को  
पत्थर के बट्टे से पीस कर  
कर रहा होता है मटियामेट

ऐसा लगता है कि संस्कृत और प्राकृत के कवियों के बीच लागडाट चलती रहती होगी, जो इन कुछ गाथाओं में व्यक्त हुई है। दूसरी और बाण, गोवर्धन जैसे महान् कवियों ने प्राकृत कविता की खुले मन से खूब सराहना की है। संस्कृत इस समय जीवंत संवाद की भाषा थी। जयवल्लभ की गाथाएँ लिखी जा रही थीं, संस्कृत में बातचीत उस समय भी हुआ करती थी। इसी लिये एक गाथा में यहाँ कहा गया-

छंदेण विना कव्यं लक्कखणरहियम्मि सक्कयालावं ।  
रुवं विणा मरट्टो तिण्णि वि सोहं न पावंति ॥  
(छन्दसा विना काव्यं लक्षणराहित्ये संस्कृतालापः ।  
रूपं विना गर्वस्त्रीण्यपि शोभां न प्राप्नुवन्ति ।)

छन्द के बिना काव्य, व्याकरण के बिना संस्कृत भाषण और रूप के बिना गर्व- ये तीनों ही शोभित नहीं होते। जयवल्लभ के द्वारा उदाहृत अनेक प्राकृत गाथाओं के भाव इनके आसपास लिखी गई संस्कृत कविताओं में देखे जा सकते हैं। वज्जालग की एक गाथा है-

संकुयइ संकुयंते वियसइ वियसंतयम्मि सूरम्मि ।  
सिसिरे रोर कुडुंबं पंकयलीलं समुव्वहइ ॥ (146)  
(संकुचति संकुचति विकसति विकसति सूर्ये ॥  
शिशिरे दरिद्रकुटुम्बं पङ्कजलीलां समुद्धहति ।।)  
सिमटा जाता है उसके सिमटते ही  
विकसित हो जाता है उसके बढ़ते ही  
शीत में दरिद्र का कुटुंब  
ढोता रहता है

कमल की लीला को ।  
 संस्कृत के कवि ने दरिद्र के जीवन को इसी प्रकार की अभिव्यक्ति दी है-  
 विकसामि रवावुदिते सङ्कोचमुपैमि चास्तमुपयाते ।  
 दारिद्र्यसरसि निमग्नः पङ्कजलीलामनुभवामि ॥ (सुभाषितावलि, 3186)  
 सूरज के उगने पर खिलता हूँ  
 अस्त होता हूँ सूरज के ढलने पर  
 गरीबी के सागर में डूबा  
 कमल की दशा को अनुभव कर रहा हूँ मैं ।

वज्जालग में धवलवज्जा (धवलव्रज्या) नाम से एक पूरी व्रज्या धौले (बैल) पर केंद्रित है ।  
 'धवल' शब्द खेती में काम आने वाले अच्छी नस्ल के बैल के लिये आता है । धवल की प्रशंसा  
 के बहुत उम्दा कशीदे कवियों ने काढ़े हैं । प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं में धवल पर ढेरों  
 गाथाएँ और श्लोक हैं । खेत-खलिहान से परिचित और गाँव की मिट्टी में रचे बसे कवियों ने इन्हें  
 लिखा है ।

संचुष्णियथोरजुप्पहारसंजणियगरुयकिकणसोहो ।  
 धवलस्स महाभरकड्डणाइ कन्धो च्विय कहेइ ॥ (179)  
 संचूर्णितपृथुप्रहारसञ्जनितगुरुककिकणशोभः ।  
 धवलस्य महाभरकर्षणानि स्कन्ध एव कथयति ॥  
 जुए की जबर मार से पिसती चमड़ी पर  
 पड़ गये हैं घट्टे जिसमें  
 धौले बैल का कन्धा यह  
 कह रहा है कहानी  
 उसके भारी बोझ उठाने की ।

चिक्कणचिक्खल्लचहुट्टचक्कथक्केभरम्मि जाणिहिसि ।  
 अविसेसन्नय गहवइ परंमुहो जंसि धवलाणं । (182)  
 (चिक्कणकर्दममग्नचक्रस्थिते भरे ज्ञास्यसि ।  
 अविशेषज्ञ गृहपते पराङ्मुखो यदसि धवलेभ्यः ।।)

जब फिसलनभरे कीचड़ में  
 फँस जाये माल से लदी गाड़ी  
 तब जानोगे  
 ए नादान गृहस्थ  
 अपनी उस चूक को  
 जो धौले बैल को दुत्कार कर तुमने की ।  
 इधर संस्कृत के कवि धवल की प्रशंसा में स्वभावोक्ति की छवि बिखेरता हुआ कहता है-  
 न ध्वानं कुरुषे न यासि विकटं नौच्चैर्वहस्याननं  
 दर्पान्नोल्लिखसि क्षितिं क्षितिं खुरपुटैर्नावज्ञया वीक्षसे ।  
 किन्तु त्वं लसुधातलैकधवल स्कन्धाधिरूढै भरे  
 तीराण्युच्चतटीविटङ्कविषमाण्युल्लङ्घयन् वीक्ष्यसे ॥ शा, प. 967

ओ मेरे धवल बैल,  
 इस धरती पर तू ही तो है बस  
 बैलों में एक बैल  
 अब वह गूँजती डकार नहीं भरता तू,  
 न चाल में वह तेजी है,  
 न ऊँची धूथन करके चलता है,  
 भर घमंड में, खोदता नहीं खुरों से धरती,  
 नहीं ताकता तिरस्कार से  
 पर जब कंधों पर बोझा लादे  
 कर लेता है ऊबड़खाबड़ पार किनारे  
 तो देखते रह जाते हैं लोग।

मार्गे दुर्गमकर्म जलभृते गर्ताशतैराकुले  
 खिन्ने शाकटिके भरेति विषमे दूरं गते रोधसि  
 शब्देनैतदहं ब्रवीमि महता कृत्वोच्छ्रितां तर्जनी-  
 मीवृक्षे विषमे विहाय धवलं वोढुं क्षमः को धुरम् ॥ शाङ्ग्रधरपद्धति, 963

कीचड़ से भरी राह दुर्गम  
 तिस पर नाले और खाइयाँ अनगिनती  
 थक कर चूर हुआ है गाड़ी वाला  
 बड़ा विकट है बोझ,  
 तिस पर दूर किनारा,  
 भैया हम तो दूर से ही सुन कर  
 बैलगाड़ी की गड़गड़  
 कह देते हैं तर्जनी उठा कर  
 केवल एक- वही अपना बैल धवल  
 ला सकता है ऐसी विकट राह से गाड़ी  
 छोड़ कर उसको  
 बैल ही कोई और कहाँ है कोई?

ऊपर ग्रामजीवन, निम्नवर्ग के परिवार के जीवन के मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने वाली प्राकृत गाथाएँ और संस्कृत के श्लोक उद्धृत किये गये हैं। जयवल्लभ के संकलन में भी इस तरह की गाथाएँ हैं, जिनमें प्राकृत कविता की लोकजीवन की परंपरा और संस्कृत कविता से उसके संवाद की प्रक्रिया बनी हुई है। उदाहरण के लिये-

तुच्छं तवणि पि घरे घरिणा तह कह वि नेइ नेइ विस्तारम् ।  
 जह ते वि बंधवा जलनिहि व्व थाबं न याणंति । (456)  
 (तुच्छं भक्ष्यकणमपि गृहे गृहिणी तथा कथमपि नयति विस्तारम् ।  
 यथा तेऽपि बान्धवा जलनिधेरपि तलं न जानन्ति ॥)  
 तुच्छ अन्न के दाने को  
 भी गृहिणी इस तरह दे देती है विस्तार

कि कुल के लोग  
 समझते हैं  
 घर एक सागर है  
 कभी नहीं ले पाएँगे वे जिसकी थाह ।  
 दुग्गयघरम्मि घरिणी रक्खंती आउलत्तणं पइणो ।  
 पुच्छिअदोहलसद्धा उययं चिय दोहलं कहइ ॥ (457)  
 (दुर्गतगृहे गृहिणी रक्षन्त्याकुलत्वं पत्युः ।  
 पृष्टदोहदश्रद्धोदकमेव दोहदं कथयति ।।)  
 दरिद्र के घर में घरवाली  
 जो माँ बनने को है  
 पति के पूछने पर कि क्या कुछ चाहिए  
 उसकी आकुलता लख  
 उत्तर देती है- कुछ नहीं,.... केवल पानी ....  
 पत्ते पियपाहुणए मंगलवलयाइ विक्कीणंतीए ।  
 दुग्गयघरणीकुलवालियाइ रोआविओ गामो ॥ (458)  
 (प्राप्ते प्रियप्राघुणके मङ्गलवलयाणि विक्रीणन्त्या ।  
 दुर्गतगृहिणीकुलबालिकया रोदितो ग्रामः ।।)  
 प्रिय पाहुन के घर आने पर  
 बेच रही है वह ब्याह के भी कंगन  
 वह कुल बालिका है  
 गरीब की घरवाली है  
 उसने रुला दिया है आज सारे गाँव को ।

इस तरह संस्कृत और प्राकृत कविता में जीवंत संवाद बना हुआ था । आचार्य राजशेखर ने दो काव्यधाराओं या काव्यपरंपराओं के बीच संवाद का विवेचन करते हुए प्राकृत की निम्नलिखित गाथा वेश बदल कर संस्कृत कविता में किस तरह उतरती है यह गाहासतसई की गाथा के उदाहरण से समझाया है । गाथा यह है-

पासासंकी काओ गेच्छदि दिण्णं पि पहिअघरणीए ।  
 ओणंतकरअसोगलिअवल अमज्झट्टिठअं पिंडं ॥ 3.5

अर्थात् पथिक की घरवाली या विरहिणी स्त्री कौवे को पिंड देती है, तो उसकी दुबली हो गई कलाई से कंगन गिर कर पिंड की परिधि पर घेरा बन कर जा गिरता है । कौवा यह समझ कर कि पिंड के आसपास उसे पकड़ने के लिए जाल बिछाया गया है, उस पिंड को खा ही नहीं रहा है । इसी गाथा के भाव को लेकर संस्कृत कवि ने उसे इस तरह विस्तार दिया है-

दत्तं पिण्डं नयनसलिलक्षालनाधौतगण्डं  
 द्वारोपान्ते मयि कथमपि तया सङ्गमाशानुबन्धात् ।  
 वक्रग्रीवश्चलनतशिरः पार्श्वसञ्जारिचक्षुः  
 पाशाशङ्की गलितवलयं नैनमश्नाति काकः ॥

राजशेखर के अनुसार यह नटनेपथ्य का उदाहरण है, जिस प्रकार एक ही नट चोला बदल

कर दूसरी भूमिका में आ जाता है, उसी प्रकार एक कवि का अर्थ या भाव चोला बदलकर अन्य कवि की रचना में आ जाता है।

गाहासतसई परवर्ती भारतीय मुक्तक-काव्य-परंपरा की एक उपजीव्य कृति भी कही जा सकती है। इसके द्वारा हमारे अपने जीवन का सरस राग-रंग कविता के लय और छंद में समा गया। एक गाथा में नायिका सखी से कहती है-

णीसासुककंपिअपुलएहिं जाणंति णच्चिउं धण्णा ।  
अम्हारिसीहिं दिट्ठे पिअम्मि अप्पा वि वीसरिओ ।।

वे धन्य हैं, जो साँस, कंपन और रोमांच से प्रिय को नचा लेती हैं, हम तो उन्हें देख कर अपने आप को ही भूल जाते हैं। बिल्कुल इसी भाव को संस्कृत कवि ने सुंदर रूप में नायिका के इस कथन में सँजोया है-

धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि  
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।  
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण  
सख्यः शपामि यदि किञ्चदपि स्मरामि ।।

वैदिक यज्ञों में गाया जाने वाला गाथा छंद प्राकृत साहित्य में गाहा के रूप में आया। प्राकृत में आकर यह ऐसा सरस मधुर और मनोहर हो गया कि संस्कृत कवियों ने प्राकृत गाथाओं को अपनी कविता में उतारा, तो काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भी इन गाथाओं को अपने सिद्धांतों की पुष्टि में अनेकशः उद्धृत किया। पर संस्कृत और प्राकृत साहित्य के बीच आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया एकतरफा नहीं रही, कालिदास और अमरुक जैसे महाकवियों की कविता का प्रभाव वज्जालग के परवर्ती कवियों की गाथाओं में फिर देखा जा सकता है। संस्कृत और प्राकृत की सहवर्तिता इसी तरह निरंतर बनी रही है। ईसा की पहली सहस्राब्दी को हम संस्कृत और प्राकृत की अन्तर्निर्भरता और सहअस्तित्व की शताब्दी कह सकते हैं। महाकाव्यों में पउमचरिउ सेतुबंध और गउडवहो जैसी रचनाएँ कालिदास और भारवि, माघ, श्रीहर्ष की बृहत्-त्रयी के महाकाव्यों के साथ संवाद और अंतःक्रिया की प्रक्रिया का साक्ष्य देती हैं। संस्कृत में अष्टादश पुराणों और उपपुराणों की रचना पहली सहस्राब्दी में हो रही थी, तो प्राकृत में महापुराण, हरिवंशपुराण, जंबुसामिचरिउ आदि की रचना हो रही थी। कथा और आख्यान की परंपरा में प्राकृत साहित्य की समृद्धि और उपलब्धियां संस्कृत के कथासाहित्य से अधिक विशिष्ट हैं। तरंगवतीकहा, कुलयमालाकहा, लीलावईकहा, निब्बाणलीलावई, विलासवईकहा, समराइच्चकहा, पुष्पवईकहा, सुरसुंदरीकहा, मनोरमाचरिअ, नम्मयासुंदरी कहा आदि कथाओं में भारतीय कथा परंपरा के दुर्लभ उदाहरण संचित हैं।

ईसा की दूसरी सहस्राब्दी में अवश्य प्राकृत की रचनात्मकता कुछ क्षीण हुई और वह और अधिक संस्कृतमुखापेक्षी होती गई। अठारहवीं शताब्दी में रामपाणिवाद के कंसवहो और उसानिरुद्ध तथा बीसवीं शताब्दी में जग्गु वकुल भूषण के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत में यह संस्कृत पर सर्वथा निर्भरता स्पष्ट है।

संस्कृत पर निर्भर प्राकृतों का प्रयोग संस्कृत नाटकों में बहुत हुआ है। नाट्यशास्त्र में सात प्राकृत भाषाएँ प्रयोग किये जाने का निर्देश है- मागधी, आवंती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका तथा दक्षिणात्या। मृच्छकटिक में तो 27 तरह की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है।

प्राकृत सिखाने के लिये संस्कृत माध्यम और संस्कृत व्याकरण का आश्रय लिया जाता रहा। वररुचि का प्राकृतसूत्र या प्राकृतप्रकाश तीसरी चौथी शताब्दी में रचित माना गया है। इसमें मुख्यतया संस्कृत के माध्यम महाराष्ट्री प्राकृत सिखाई गई है, संस्कृत से महाराष्ट्री में रूपांतर या छाया के लिये नियम निर्दिष्ट किये गये हैं। यही स्थिति मार्कंडेय के प्राकृतप्रकाश तथा अन्य व्याकरणों की भी है।

कहा जाता है कि संस्कृत भाषा जनसामान्य की भाषा नहीं रह गई। पर साहित्य में जिन प्राकृतों का प्रयोग मिलता है, वे जनसामान्य की भाषा रही हों, ऐसा नहीं लगता। प्राकृत क्लासिकी भाषा के रूप में रूढ़ हो चुकी थी। प्राकृत जन-जन की भाषा नहीं रह गई, उसका स्थान अपभ्रंश और नव्य भारतीय भाषाएँ लेने लगीं, तब प्राकृत की जो गाथाएँ जन-जन के कंठों का हार थीं, उन्हें गाने और सुनने वाले कम होने लगे। ऐसी स्थिति का एक कारुणिक निरूपण वज्जालग की इस गाथा में मिलता है

गाहा रुवइ वराई सिक्खिज्जंति गवारलोएहिं।

कीरइ लुच्च पलुच्चा जह गाइ मंद दोहेहि।।

गाथा बेचारी रो रही है

गँवार लोग उसे नोंच खरोंच देते हैं

जैसे कोई अनाड़ी

दूध दुहते समय गाय के थनों को।

प्राकृत भाषा विस्मृत होने लगी, तो उसके शिक्षण का माध्यम संस्कृत बनी। संस्कृत से प्राकृत बनाने के सूत्र बताये जाने लगे। इनके प्राचीन निरूपण नाट्यशास्त्र और विष्णुधर्मोत्तरपुराण जैसे ग्रंथों में मिलते हैं। नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में संस्कृत पाठ्य से प्राकृत पाठ्य नाटककार व अभिनेता किस प्रकार निर्मित करें, इसके लिये निर्देश दिये गये हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण-तृतीय खंड के प्राकृतभाषालक्षण शीर्षक सातवें अध्याय में संस्कृत के आधार पर प्राकृत भाषा के लक्षण व शिक्षण का उपक्रम किया गया है। भरतमुनि कहते हैं कि नाटक के संस्कृत पाठ्य या संवादों को कुछ उलटपुलट दिया जाए, संस्कारगुण से वर्जित कर दिया जाए, तो विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं में प्रयुक्त होने वाली प्राकृत बन जाती है। नाट्यशास्त्र का सत्रहवाँ अध्याय तो इस दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत का तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक अध्ययन का एक विशद और विस्तृत निबंध ही है। नाटक में प्रयुक्त होने वाली प्राकृत भरत के अनुसार कुल मिला कर तीन प्रकार की है- समानशब्दात्मक अर्थात् तत्सम, विभ्रष्ट या तद्भव तथा देशीगत या देशज। प्राकृत के भरतमुनि के द्वारा प्रतिपादित तीन रूप आधुनिक भाषाशास्त्रियों के द्वारा भी स्वीकृत किये गये हैं। प्राकृत का पहला रूप- समानशब्दात्मक या तत्सम- नाटक के संवादों में भाषासम अलंकार या पताकास्थानक का प्रयोग करने पर उपादेय होता है। भाषासम अलंकार वहाँ होता है, जहाँ ऐसे पदों का प्रयोग कर के पूरा पद्य रच दिया जाय, जो दो भाषाओं में एक समान हों। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध से अपने प्रियप्रवास काव्य में 'रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायकलिका राकेन्दुबिम्बानना' जैसे पंक्तियाँ लिखकर संस्कृत और हिंदी का भाषासम रच दिया है। इसी प्रकार भवभूति ने अपने मालतीमाधव नाटक में ऐसा पद्य प्रस्तुत किया है, जो संस्कृत प्राकृत दोनों में उभयनिष्ठ है। भाषासम अलंकार दो भाषाओं में अत्यधिक नैकट्य के कारण संभाव्य हो पाता है। भरतमुनि कहते हैं कि कमल, अमल, रेणु, तरंग, लोल, सलिल आदि ऐसे ढेरों शब्द हैं, जो संस्कृत और प्राकृत दोनों में

तत्सम रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। अतएव प्राकृत की रचना में संस्कृत और संस्कृत की रचना में प्राकृत का समावेश हो जाता है। विभ्रष्ट या तद्भव शब्दों का निर्माण संस्कृत शब्दों से करके प्राकृत शब्दरचना की जा सकी है। उसके लिये कतिपय बँधे-बँधाये सूत्र नाट्यशास्त्र की परंपरा ने प्राकृतव्याकरण की दृष्टि से अपना लिये। जैसे क, ख, घ, त, थ, ध, भ और स इनकी हकार में परिणति। उदाहरणार्थ- फलिक का फलिह, मुख का मुह, मेघ का मेह, वसति का वसहि, रथ का रह, दधि का दहि, शोभा का सोहा तथा दिवस का दिअह प्राकृत हो जाता है। ट, ठ का ड हो जाता है, जैसे- विट का विड। र का लत्व होता है। थकार का ढकार होता है, यथा- वृद्ध का बुडूढ; नकार का णकार, जैसे- नयन का णयण। पकार का फकार, जैसे स्पर्श का फरुस। भट, कटक, कुटी तट आदि शब्दों में टकार का डकार हो जाता है। तालव्य और मूर्धन्य का दन्त्य सकार जैसे विष का विस। इसी प्रकार संयुक्त वर्णों वाले संस्कृत शब्दों से प्राकृतशब्द निर्माण के नियम भी पृथक् से भरत मुनि ने निरूपित किये हैं, और इनके उदाहरण में अच्छरियं, णिच्छयं, वच्छं, उच्छरअ, उच्छाहो आदि शब्दों का निर्देश किया है।<sup>4</sup>

तथापि इन आचार्यों ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया है कि अनेक शब्द ऐसे भी हैं, जो मूलतः देशज या प्राकृत की अपनी संपदा या विरासत हैं, तथा उन्हें संस्कृत भाषा ने अंगीकार किया है। पंडित जन दोहद शब्द की निरुक्ति दोहद से कर सकते हैं, परन्तु यह शब्द मूलतः प्राकृत का है, जिसे संस्कृत भाषा ने अपना लिया। यही स्थिति देवर जैसे शब्दों की भी है, जिनका संस्कृत रूप द्विवर बनाया जा सकता है, पर ये अपने प्राकृत रूप में ही संस्कृत के साहित्य में धड़ल्ले से प्रयुक्त होते आये हैं। हाला शब्द जिसका प्रयोग कालिदास ने अपने मेघदूत में किया है (हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनङ्काम्), मूलतः संस्कृत का न होकर प्राकृत का है, जो आज भी आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त होता आ रहा है। मल्लिनाथ ने कालिदास के इस प्रयोग की टीका करते हुए कहा है- “अभियुक्तं देशीभाषापदमित्यत्र सूत्रे हाला इति देशभाषापदमतीव कविप्रयोगात् साधु।”

इन शब्दों के अतिरिक्त प्राकृत भाषा ने देशज शब्दों का जो भंडार सुरक्षित रखा है, वह संस्कृत के क्लासिकी साहित्य में तो जगह नहीं बना सका, पर संस्कृत के कथासाहित्य में उसमें से अनेक शब्दों के अनेक मोती अपनी आभा झलकाते हुए दिखते हैं। शुकसप्तति, भरटकद्वात्रिंशिका जैसे संस्कृत के कथाग्रंथों में तो सैकड़ों शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो संस्कृत के नहीं हैं, पर इन संस्कृत कथाग्रंथों के प्रणेताओं ने उन्मुक्त भाव से उन्हें अपने साहित्य में स्थान दे दिया है। चंग, पोगंड, आदि शब्द ऐसे ही हैं।

संस्कृत में छविल्ल और प्राकृत में छइल्ल शब्द रसिक या सहृदय व्यक्ति के लिये आते हैं। अर्थान्तर के साथ छैल-छबीले या सौन्दर्यलोलुप व्यक्ति के लिये भी इनका प्रयोग हुआ है। छेक शब्द इनका समवर्ती है।

मध्यकाल में सांस्कृतिक समन्वय भक्तिकाल के अभ्युदय तथा धर्मिक नवोत्थान में बहुभाषिकता की सकारात्मक भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम, नामदेव आदि ने अपने क्षेत्र की भाषा के साथ देश की अलग-अलग क्षेत्रों की बोलियों या भाषाओं को भी अपनाया। संत ज्ञानेश्वर जब महाराष्ट्र के बाहर जाते थे, तो उनकी वाणी इस प्रकार के दोहों या चौपाइयों में व्यक्त होती थी-

निर्गुण ब्रह्म भुवन तें न्यारा

पोथी पुस्तक भेद अपारा ।  
कोरा कागड पढ कर जोय ।  
लेना एक न देना दोय ।

तुलसीदास संस्कृत और अवधी दोनों भाषाओं में रचना करते हैं। मुगल काल में बहुभाषिक प्रयोग के जीवंत उदाहरण हैं- हज़रत अमीर खुसरो और अब्दुल रहीम खानखाना ।

अब्दुल रहीम खानखाना (1556-1627 ई.) के विलक्षण और विराट् व्यक्तित्व और बहुमुखी प्रतिभा ने भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक परिदृश्य को अविस्मरणीय रूप से संपन्न बनाया । संस्कृत, फारसी, उर्दू और हिंदी में संक्रांत उनकी रचनाधर्मिता भी उल्लेखनीय है । संस्कृत में उन्होंने गंगाष्टकम्, खौटकोतुकम्, और त्रयस्त्रिंशद्योगावलि: जैसे काव्य तथा शास्त्रीय ग्रंथ लिखे, तो हिंदी-संस्कृत, संस्कृत-फारसी की मिश्रित शैली में रचनाएँ कीं । मदनाष्टकम् में हिंदी और संस्कृत के मिश्रण के साथ संस्कृत की परंपरा की मालिनी छंद लिया-

शरदनिशिनिशीथे चाँद की रोशनाई  
सघनवननिकुञ्जे कान्ह वंशी बजाई  
रतिपतिसुतनिद्रा साइयाँ छोड़ भागीं ।  
मदनशिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

रहीम ने अपने मुक्तकों में संस्कृत और उर्दू का मिश्रण किया । इस तरह के छंदों में निम्नलिखित उदाहरण लोकप्रिय रहा है-

द्रष्टुं तत्र विचित्रितां तरुलतां मैं था गया बाग में  
काचित् तत्र कुरङ्गशावनयना गुल तोड़ती थी खड़ी ।  
उन्मद्भ्रूधनुषा कटाक्षविशिखैः घायल किया था मुझे  
तत्सीदामि सदैव मोहजलधौ है दिल शुक्रगुजार ॥

आधुनिक भारत के निर्माण में बहुभाषिकता का बड़ा योगदान है । जिन महापुरुषों ने देश के उत्थान में अग्रणी भूमिका का निर्वाह किया, वे एकाधिक भाषाओं का प्रयोग करते रहे हैं । स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ, स्वामी दयानन्द, जवाहरलाल नेहरू, महात्मा गाँधी आदि इसके उदाहरण हैं ।

## संदर्भ

1. स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च प्रायः क्रीडागता नराः ।  
या गाथाः सम्प्रगायन्ति कुर्वन्तोऽध्ययनं तथा ॥  
ताः गाथाः शृणु मे शल्य मद्रकेषु दुरात्मसु ॥ महाभारत, कर्ण 27.71  
अत्र पिङ्गलया गीता गाथाः श्रूयन्ति पार्थिव । महाभारत, शांतिपर्व 168.46  
अत्राप्युदाहन्तीमा गाथा सत्यवता कृताः । महाभारत, शांति पर्व 148.14  
अप्यत्र गाथां गायन्ति ये पुराणविदो जनाः । महाभारत, आदिपर्व 112.13  
अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा देवैरुदाहताः । महाभारत, आरण्यकपर्व 135.3
2. विस्तृत विवरण के लिये प्रस्तुत लेखक की पुस्तक - संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा, द्वितीय सं., विदिशा, 2000 देखें ।
3. विस्तृत विवरण के लिये प्रस्तुत लेखक की पुस्तक 'संस्कृत कविता की लोकधर्मी परंपरा' द्रष्टव्य है
4. एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।  
प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥  
त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः ।  
समानशब्दैः विभ्रष्टं देशीमतमथापि वा ।  
पाठ्यमेकं तु विज्ञेयं संस्कृतं प्राकृतं तथा ।  
कमलामलरेणुतरङ्गलोलसलिलादिवाक्यसंपन्नम् ।  
प्राकृतबन्धेष्वेवं संस्कृतमपि योगमुपयाति ।  
ये वर्णाः संयोगस्वरवर्णान्यत्वमूनतां चापि ।  
यान्त्यपदादौ प्रायो विभ्रष्टांस्तन् विदुर्विप्राः ॥  
नाशा. 17.2-6